



अध्याय ४

ज्ञान योग

श्रीभगवानवाच ।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥४-१॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - मैंने सूर्यदेव विवस्वान को यह अविनाशी योगविद्या प्रदान की थी। उसके बाद विवस्वान ने इस ज्ञान को वैवस्वत मनु को बताया, और मनु ने इक्ष्वाकु को इसी ज्ञान की शिक्षा दी।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥४-२॥

इस प्रकार, हे शत्रुविजयी अर्जुन, राजर्षियों ने इस ज्ञान को गुरु-शिष्य परम्परा की पद्धति द्वारा प्राप्त की। परन्तु कालांतर मे यह योगविद्या विलुप्त हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥४-३॥

पुनः इस प्राचीन योग विज्ञान को मैं तुम्हें दे रहा हूँ। चूंकि तुम मेरे प्रिय मित्र व भक्त हो, तुम उस दिव्य रहस्य को समझ पाओगे जिसकी व्याख्या मैं तुमसे करने जा रहा हूँ।

अर्जुन उवाच ।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४-४॥

अर्जुन ने कहा -आपका जन्म तो हाल ही में हुआ है जब की सूर्यदेव बहुत पहले प्रकट हुए थे। तो मैं यह कैसे समझें कि आपने ही उन्हें योग-विज्ञान की शिक्षा दी थी?

~ अनुवृत्ति ~

श्री कृष्ण के उपर्युक्त वचनों के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता एक प्राचीन ग्रन्थ है। कृष्ण कहते हैं कि उन्होंने बहुत पहले सूर्यदेव विवस्वान को यह योग-विद्या प्रदान की थी, और तत्पश्चात विवस्वान ने अन्य देवताओं को और राजर्षियों को यह ज्ञान प्रदान किया। एक से दूसरे को ज्ञान प्रदान करने की पद्धति को परम्परा

श्रीमद्भगवद्गीता

कहते हैं। किंतु कालांतर में योग का यह ज्ञान लुप्त हो गया और इसलिए कृष्ण पुनः अर्जुन को भगवद्गीता का ज्ञान दे रहे हैं।

भगवद्गीता को पूर्ण रूप से समझने की योग्यता यहां बताई गई है। उन्हें कृष्ण का भक्त होना चाहिए और उन्हें यह समझना चाहिए कि कृष्ण सारे जीवात्माओं के मित्र हैं - सुहृदं-सर्व-भूतानाम्। भक्ति-योग में हम भगवान् से भय नहीं करते क्योंकि कृष्ण कोई क्रोध करने वाले भगवान् नहीं हैं। कृष्ण हमारे सबसे प्रिय मित्र हैं और सदा हमारे हितैषी हैं। कृष्ण ही हमारे प्रेम, पूजा, व प्रणय के सर्वोच्च पात्र हैं। और कृष्ण में अपने भक्तों के लिए गहरी प्रेम की भावना है।

इन श्लोकों से हमें यह भी समझना चाहिए कि योग का ज्ञान केवल योगशाला के शिविर के लिए नहीं है। योग का ज्ञान दरसल दुनिया की सबसे महत्वपूर्ण ज्ञान की शाखा है जिसका अध्ययन राज्य के शासकों से लेकर नागरिकों तक प्रत्येक विवेकपूर्ण मनुष्य को करना चाहिए। योग का अध्ययन व अभ्यास करने का अवसर सभी को प्राप्त होना चाहिए, जिससे व्यक्ति जीवन में आसानी से संपूर्ण-सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

अर्जुन के मन में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि कृष्ण ने विवस्वान को भगवद्गीता के उपदेश कैसे दिए, क्योंकि कृष्ण तो कुछ ही समय पहले आए जबकी विवस्वान लाखों वर्ष पहले आए थे?

श्रीभगवानुवाच ।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥४-५॥

भगवान् श्री कृष्ण ने कहा - हे शत्रु-विघ्नसक अर्जुन, हम और तुम कई जन्मों से गुजर चुके हैं। मुझे उन सभी जन्मों का स्मरण है, परन्तु तुम्हें नहीं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥४-६॥

हाला कि मैं अजात हूँ और मेरा स्वरूप अविनाशी है, और मैं सर्वेश्वर भी हूँ, तब भी अपने भौतिक प्रकृति को अपने अधीन रखकर मैं स्वयं अपनी शक्ति से प्रकट होता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४-७॥

हे भरतवंशी, जब जब धर्म का पतन होता है और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं स्वयं प्रकट होता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४-८॥

पुण्यात्माओं की रक्षा और दुष्कर्मियों के विनाश के लिए, एवं धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में आता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥४-९॥

जो मेरे दिव्य जन्म और कर्मों को समझते हैं उनका देहांत के पश्चात पुनर्जन्म नहीं होता। हे अर्जुन, वह मेरे पास आते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

जो श्री कृष्ण के आविर्भाव व कर्मों को समझते हैं वे निश्चय ही जन्म और मृत्यु के चक्र से परे स्थित हो जाते हैं। भौतिक जीवन में सभी जीवात्माएं, एक जन्म से दूसरे जन्म में शरीर के निरंतर देहांतरण की अवस्था में रहते हैं। जब कोई शुद्ध आध्यात्मिक चेतना की अवस्था प्राप्त कर लेता है तब वह संसार व देहांतरण की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हम दोनों ही कई जन्मों से गुजर चुके हैं, जिन्हें तुम (अर्जुन) तो भूल चुके हो, किंतु मुझे (कृष्ण) उन सब जन्मों का स्मरण है।

चूंकि जीवात्माएं मृत्यु के समय अपना शरीर बदलती हैं, इसलिए वे अपने पिछले जन्मों को भूल जाते हैं। श्री कृष्ण ही परम-सत्य हैं, और इसलिए वे कभी भी अपना शरीर नहीं बदलते। चूंकि कृष्ण अपना शरीर नहीं बदलते इसलिए वे कुछ भी नहीं भूलते। श्री कृष्ण और उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं, जब कि जीवात्माएं भौतिक जीवन में भौतिक पदार्थों से देहबद्ध होती हैं। भौतिक संसार में सभी जीवात्माओं के शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार जैसे मूलभूत पदार्थों से निर्मित होते हैं। भगवान् श्री कृष्ण का

स्वरूप सच्चिदानन्द (सत-चित-आनन्द) है। कृष्ण का स्वरूप सच्चिदानन्द है, अतः कृष्ण और उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं। वे दिव्य एवं आध्यात्मिक हैं।

श्री कृष्ण को न केवल अपने सभी जन्मों का स्मरण है, परन्तु उन्हें अर्जुन के भी पिछले सभी जन्मों का स्मरण है। जो पूर्ण रूप से सर्वज्ञ हैं, यही परम-सत्य के लक्षण हैं।

योगविद्या के विलुप्त हो जाने पर धर्म का पतन और अधर्म का उत्थान स्वाभाविक है। श्री कृष्ण कहते हैं कि जब ऐसा होता है, तब वे इस दुनिया में धर्म की पुनर्स्थापना करने के लिए प्रकट होते हैं। ऐसे कर्तव्यों, कार्यों, तथा अभ्यासों को धर्म कहा जाता है जो लोगों को कुशल-मंगल बनाए रखे और उन्हें उनकी सृष्टिपरक वैधानिक स्थिति को जानने में उनकी सहायता करे जिससे कि वे यह समझ सकें कि वे परम-सत्य श्री कृष्ण के ही सचेत अवयवभूत अंश हैं। इस दुनिया के सांसारिक आस्थाओं (Religions) को धर्म मान लेना गलत है।

आठवें श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि वे प्रत्येक युग में (युगे युगे) युगधर्म की स्थापना करने प्रकट होते हैं। सत्ययुग में श्री कृष्ण हंस, मत्स्य, कूर्म, वराह, और नृसिंह अवतार में प्रकट हुए। त्रेतायुग में वे वामन, परशुराम, और रामचन्द्र बनकर आए। द्वापरयुग में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण पधारे, और कलियुग में वे बुद्ध और श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में आए। एक और अवतार हैं जो आज से लगभग ४,२७,००० वर्ष पश्चात, कलियुग के अंत में आनेवाले हैं, वे हैं कलिक।

जब कृष्ण भगवद्गीता का ज्ञान दे रहे थे, तब द्वापरयुग का अंत हो रहा था - ऐसा युग जहां बहुत धर्मनिष्ठता हुआ करती थी और मद्यपान की दुकानें, अवैध यौन-क्रिया, राजनैतिक भ्रष्टाचार, नशीली पदार्थों का दुष्ययोग, और गठित रूप में पशु संहार जैसी बुराईयों का खुलेआम प्रचलन तब बिल्कुल ही अनसुना हुआ करता था। आज, पाँच हजार वर्ष पश्चात, हम एक ऐसे युग में हैं जिसे कलियुग कहा जाता है, जहां पर ऐसी बुराईयां सामान्य तौर पर सब जगह देखी जाती हैं जो द्वापरयुग में अनसुनी हुआ करती थी।

जिस प्रकार श्री कृष्ण द्वापरयुग के अंत में प्रकट हुए थे, उसी तरह पुनः कलियुग में, ४५७६ वर्ष पश्चात वे श्री चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए। श्री चैतन्य महाप्रभु को कलियुग के अवतार या युगावतार भी कहा जाता है। युगावतार के रूप में, श्री कृष्ण ने नाम-संकीर्तन के धर्म की शिक्षा दी, जिसे महामन्त्र का

कीर्तन कहते हैं, और जो न केवल आत्म-साक्षात्कार के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है, परन्तु कलियुग में आत्म-साक्षात्कार के लिए इसे इकलौता अनुशांसित साधन माना गया है। बृहन्नारदीय पुराण (३८.१२६) में इस बात को निर्णायक ढंग से कहा गया है -

हरेनाम हरेनाम हरेनामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

कलियुग में हरिनाम के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं।

जब महामन्त्र को सामूहिक तौर पर उच्च स्वर में गाया जाता है, तब उसे कीर्तन या संकीर्तन कहते हैं। जब महामन्त्र का मंद स्वर में उच्चारण करते हुए, एक-सौ-आठ मणियों की माला पर उनके आवर्तन गिने जाते हैं, तब उसे जाप कहते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु तथा संकीर्तन आन्दोलन के आविर्भाव के पश्चात, सार्वभौम भट्टाचार्य और प्रकाशानन्द सरस्वती जैसे अनेक महान व विद्वान पण्डितों ने, तत्त्वज्ञानियों ने, एवं योगियों ने, सभी योग, वेदान्त व दर्शन प्रणालियों को एक तरफ रखकर, कृष्ण के पवित्र नामों के जाप में स्वयं को पूरी तरह से निमग्न कर लिया है। महान परमहंसों के अनुसार, इस युग में आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए, महामन्त्र का कीर्तन ही सबसे पक्का रास्ता है। श्रीमद्भागवतम् में कहा गया है -

कलेर दोष-निधे राजन् अस्ति ह्येको महान् गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्घः परंब्रजेत् ॥

हाला कि कलियुग अनेक दोषों से भरा एक महासागर है, जहां पर लोग अल्पायु, मंद और सदैव अशांत होते हैं, फिर भी इस युग की एक महान विशेषता यह है कि केवल श्री कृष्ण का नाम जपने से ही व्यक्ति अपने सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो सकता है और परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। (श्रीमद्भागवतम् १२.३.५१)

कृते यद्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्वरि कीर्तनात् ॥

सत्ययुग में विष्णु पर तपस्या करने से, त्रेतायुग में विस्तारपूर्वक यज्ञ कार्य करने से, तथा द्वापरयुग में भगवान् की श्री मूर्ति के अर्चन से, जो परिणाम पाए जाते थे, कलियुग में महज श्री कृष्ण के नाम-संकीर्तन द्वारा वही परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। (श्रीमद्भागवतम् १२.३.५२)

महामन्त्र का जाप हमें आत्म-साक्षात्कार के पथ पर आगे बढ़ाता है, क्योंकि यह हमारे हृदय से सांसारिक वासनाओं को मिटाकर उसे निर्मल बनाता है, यह हमारे जीवन की मिथ्या धारणाओं का सफाया करता है, और इस प्रकार यह हमे जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ती प्रदान करता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक श्लोक की रचना की है जहां पर उन्होंने संकीर्तन या महामन्त्र के जाप से प्राप्त होने वाले लाभों को इस प्रकार बताया गया है -

चेतोदर्पण मार्जनं भवमहादावाग्नि निर्वापणं
श्रेयः कैरव चन्द्रिका वितरणं विद्यावधू जीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्म स्नपनं परं विजयते श्री कृष्ण संकीर्तनम् ॥

कृष्ण का पवित्र नाम हृदय के दर्पण को स्वच्छ बनाता है, और जन्म और मृत्यु के सांसारिक जंगल की क्लेशाग्नि को बुझाता है। जिस तरह ब्रह्मकमल, चन्द्रमा की शीतल किरणों में खिलता है, उसी तरह हमारा हृदय भी कृष्ण के नामामृत में फूलने लगता है। अंत में आत्मा को अपने सच्चे आंतरिक निधी की जागरूकता, यानी कि कृष्ण के संग एक प्रेमपूर्वक जीवन बिताने की जागरूकता उसे होने लगती है। पुनः पुनः अमृत का आस्वादन करते हुए, आत्मा एक निरंतर बढ़ती हुई आनन्दातिरेक के सागर में पुनः पुनः डूबकि लगाती है और सतह पर आती है। स्वयं के उन सभी पहलूओं को जिनका हम विचार कर सकें, वे सभी पूर्ण रूप से संतुष्ट एवं शुद्ध हो जाते हैं, और अंत में कृष्ण के पवित्र नाम के सर्वमंगल प्रभाव से वे परास्त हो जाते हैं। (शिक्षाष्टक १)

श्री चैतन्य महाप्रभु ने महामन्त्र का कीर्तन एवं जाप करने की शिक्षा दी और साथ ही अचिन्त्य-भेदभेद-तत्त्व नामक एक संपूर्ण दार्शनिक प्रणाली की भी शिक्षा दी, जिस प्रणाली के अभ्यन्तर भारत की सभी अग्रगामी महान दार्शनिक प्रणालियां समा जाती हैं, जैसे कि आदिशंकराचार्य की अद्वैत प्रणाली, विष्णु स्वामी की शुद्धद्वैत प्रणाली, निम्बार्काचार्य की द्वैताद्वैत प्रणाली, रामानुजाचार्य

की विशिष्टाद्वैत प्रणाली, एवं मध्वाचार्य की द्वैत प्रणाली। तत्त्विकी रूप से अचिन्त्य-भेदभेद-तत्त्व परम-सत्य की समकालिक भेद एवं अभेद का सिद्धांत है जिसकी पराकाष्ठा है प्रेम-भक्ति। इस हिसाब से, श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस जग में अध्यात्मिक परिपूर्णता को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ दर्शन प्रकाशित किया है।

महामन्त्र के जाप के साथ साथ द्वापरयुग में प्रचलित मूर्ती-पूजा आज भी लोकप्रिय है। श्री मूर्ती, स्वयं श्री कृष्ण का अर्च-विग्रह प्रतिरूप है जो साधक के समक्ष विद्यमान रहता ताकि वह उसकी अर्चना कर सके और अपने मन व इन्द्रियों को भगवान् पर केन्द्रित कर सके। जब एक शास्त्र-संत द्वारा अधिकृत अर्च-विग्रह उपस्थित होता है, तो उसकी पूजा को निर्जीव एवं अनधिकृत बुतों की पूजा समझकर उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। आज, भक्ति-योग का अनुसरण करने वाली संस्थाओं में श्री कृष्ण के अर्च-विग्रह जैसे कि जगन्नाथ, पञ्चतत्त्व, गौर-निताइ, गौर-गदाधर, श्री नरसिंह और श्री श्री राधा-कृष्ण की अर्चना प्रचलित हैं।

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहयो ज्ञानतपसा पूता मद्दायमागताः ॥ ४-१० ॥**

सांसारिक बन्धनों, भय एवं क्रोध से मुक्त होकर, तथा मेरी चिंतन में निमग्न रहकर अनेक लोगों ने मेरी शरण ली है, तपस्या के ज्ञान से विशुद्ध हुए हैं, और इस प्रकार मेरे प्रति दिव्य भाव को प्राप्त कर चुके हैं।

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ४-११ ॥**

जिस भाव से लोग मेरे प्रति आत्मसमर्पण करते हैं, तदनुसार मैं उन्हें प्रतिफल प्रदान करता हूँ। हे पार्थ, सब लोग मेरे ही पथ का अनुसरण करते हैं।

**काङ्गन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ ४-१२ ॥**

इस संसार में, लौकिक सफलता की कामना करनेवाले देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि मानव समाज में ऐसी पुजा-पाठ से सफलता शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धकर्तारमव्ययम् ॥४-१३॥

मैंने ही चार सामाजिक वर्णों की सृष्टि की है जिन्हें प्राकृतिक गुणों के प्रभावों एवं उनके अनुरूपी कर्मों द्वारा निर्धारित किया जाता है। हाला कि इस व्यवस्था को मैंने ही बनाया है, यह जानो कि वास्तव में, मैं ना तो कर्ता हूँ ना मैं परिवर्तनीय हूँ।

नमां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥४-१४॥

किसी भी कर्म का मुद्दा पर कोई प्रभाव नहीं होता, और न ही मैं भौतिक कर्मों के फलों की कामना करता हूँ। जो इस बात को समझता है वह कभी भी कर्म से नहीं बंधता।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥४-१५॥

इस बात को जानते हुए, प्राचीन काल में मोक्ष की कामना करनेवाले भी कर्म किया करते थे। इसलिए तुम्हें भी उसी तरह कर्म के पथ का अनुसरण करना चाहिए जिस तरह लोग पहले किया करते थे।

~ अनुवृत्ति ~

दसवें श्लोक में ‘भाव’ शब्द का प्रयोग करके श्री कृष्ण आत्म-साक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था की ओर संकेत दे रहे हैं। भाव प्रगाढ़ अनुराग की एक ऐसी अवस्था है जो परम-पवित्र प्रेम की अवस्था के एक कदम पहले आती है। श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य श्री रूपा गोस्वामी ने इसकी व्याख्या अपने ग्रन्थ भक्ति-रसामृत-सिंधु (१.४.१५-१६) में विस्तारपूर्वक ढंग से की है।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थं निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेमः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः ॥

दिव्य प्रेम का विकास श्रद्धा से प्रारंभ होता है। श्रद्धा हमे साधु-संग की ओर ले चलती है। साधुओं की संगत में हम शिक्षा प्राप्त करते हैं, अर्थात् के ऐसे उपदेश जो हमें यह बताते हैं कि परम-सत्य को कैसे जाना जाए, और क्रमशः हम इस प्रक्रिया को आरंभ करने की दिक्षा प्राप्त करते हैं। इसे भजनक्रिया कहते हैं। जब हमारा हृदय सभी कल्मशों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है, तब हम अनर्थ-निवृत्ति की अवस्था पर पहुंचते हैं। अनर्थ-निवृत्ति के पश्चात लगातार आध्यात्मिक साधना के अनुशासन से हम निष्ठावान बनते हैं, और वहां से हम रुचि की अवस्था प्राप्त करते हैं, जहां पर हम परम-सत्य की विशुद्ध मधुरता की अनुभूति का आस्वादन करना प्रारंभ करते हैं। इसके आगे, रुचि फिर आसक्ति या परम-सत्य के प्रति अत्यंत लगाव की अवस्था में विकसित होती है। परम-सत्य के प्रती यह अत्यंत लगाव क्रमशः श्री कृष्ण के प्रति गहरे अनुराग की भावनाएं प्रकाशित करता है। इस दशा को भाव कहा जाता है। इस गहरे अनुराग की पूर्ण-विकसित अवस्था को ही प्रेम कहते हैं जब कृष्ण के प्रति दिव्य प्रेम की भावनाएं उमड़ती हैं।

दिलचस्प बात यह है कि भगवद्गीता में श्री कृष्ण इस सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि का संकेत बहुत जल्द देते हैं, पूरी तरह प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि थोड़ा गुप्त रूप से - आखिरकार, रहस्यों में प्रेम का रहस्य ही सबसे अधिक गोपनीय होता है।

आगामी श्लोकों में कृष्ण अर्जुन को प्रोत्साहित करते हैं कि वह निष्काम का पथ न अपनाए। श्री कृष्ण अर्जुन को विश्वास दिलाते हैं कि चूंकि वे स्वयं कर्म की क्रिया-प्रतिक्रिया के चक्र के परे हैं, इसलिए जो लोग उनका (श्री कृष्ण का) शरण लेते हैं वे भी सांसारिक कर्मों की प्रतिक्रिया से मुक्त हो जाते हैं।

अर्जुन से श्री कृष्ण यह चाहते हैं कि वह पूर्ववर्ती मोक्ष-प्राप्त व्यक्तियों के आदर्श का अनुसरण करे और उनके पदचिह्नों पर चले - महाजनों येन गतः स पन्थाः। प्राचीन काल में ऐसे बहुत से महान व्यक्ति हुआ करते थे जिन्हें महाजन कहा जाता है, और उन सभी महाजनों ने कृष्ण की छत्रछाया में रहकर ही जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति प्राप्त की थी। कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन इन महाजनों का अनुसरण करे।

श्रीमद्भगवद्गीता

जीवात्माएं जिस प्रकार श्री कृष्ण की शरण में आते हैं श्री कृष्ण उन्हें तदनुसार ही पुरस्कृत करते हैं। जानते हुए या बिना जाने बूझे सभी श्री कृष्ण को ही खोज रहे हैं। श्री कृष्ण आनन्द के सागर हैं और वे ही सृष्टि के सर्वप्रथम कारण हैं। ब्रह्म-संहिता में श्री कृष्ण को सर्व कारण-कारणम् कहा गया है, अर्थात् कि सभी कारणों के मूल कारण। कृष्ण को गोविन्द भी कहते हैं, यानी कि इन्द्रियों को खुश करनेवाले। किंतु शारीरिक पहचान की माया के कारण, जीवात्माएं अपना सर्वोच्च हित नहीं जानते, और इसलिए वे सीधे कृष्ण की शरण में नहीं आते। बल्कि, ये मायाग्रस्त जीव, अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए, या तो देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, या फिर आधुनिक समाज की तरह थोड़े से पैसे कमाने के लिए वे कड़ी मेहनत करते हैं और जो चाहे खरीद लेते हैं।

भौतिक जीवन में जीवात्माएं अपने कर्म के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव करते हुए अलग-अलग जीव-प्रजातियों में जगत नितान्त भ्रमण करते हैं।

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव ।
गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हुए करोड़ों जीवों में से किसी एक भाग्यवान जीव को श्री कृष्ण की कृपा से गुरु की संगती का अवसर प्राप्त होता है। श्री कृष्ण और गुरु की कृपा से उस व्यक्ति को भक्ति-लता का बीज प्राप्त होता है।
(चैतन्य-चरितामृत, मध्य-लीला १९.१५१)

यह संसार अत्यंत ही पुरानी है - जितना हम सोच सके उससे भी बहुत पुरानी है, और युग-युगान्तर के पश्चात् यहां पर बहुत कुछ बदल चुका है। फिर भी आध्यात्मिक प्रगती एवं जन्म, मृत्यु, वृद्धाप्य, और रोग की समस्याओं के समाधान का मूलभूत सिद्धांत आज भी वही है। आधुनिक सम्भता की उन्नती से दरसल जीवन के इन वास्तविक समस्याओं के समाधान खोज निकालने में बहुत कम लाभ हुआ है। तथाकथित उच्च शिक्षा और बेहतर रहन-सहन तो उपलब्ध किए जाते हैं, किंतु मूलभूत समस्याएं जैसे कि जन्म, मृत्यु, बुद्धापा, और रोग वही की वही रह जाती हैं। अब जब उचित समाधान उपलब्ध है, तो श्री कृष्ण चाहते हैं कि अर्जुन उसको स्वीकार करे।

समाज में सुव्यवस्था, और आध्यात्मिक जीवन में दक्षता एवं प्रगती को सुगम बनाने के लिए श्री कृष्ण ने चार सामाजिक वर्गों की सृष्टि की है जिसे वर्ण कहा जाता है। अपने पिछले जन्मों से प्राप्त की गई सुकृति या आध्यात्मिक योग्यता

के अनुसार व्यक्ति मनुष्य जीवन में कुछ अंतर्जात गुण लेकर जन्म लेता है। यही विश्व के अनुशासन की स्वाभाविक व्यवस्था है और सभ्य समाजों में इसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। इन मानवीय वृत्तियों को चार मौलिक विभागों में वर्गीकृत किया जाता है - बौद्धिक, सामरिक, व्यापारिक, और श्रमिक वर्ग। इन वर्गों के अनुरूपि वैदिक पद हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। श्री कृष्ण के अनुसार इन वर्गों को व्यक्ति के गुण और कर्मों से निर्धारित किया जाता है, उनके जन्म से नहीं। कोई मजदूरों के परिवार में जन्म लेकर भी अत्याधिक बौद्धिक क्षमता प्रदर्शित कर सकता है। अतएव उस व्यक्ति का बौद्धिक समुदाय में हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिए। उसी प्रकार, कोई एक धनी व्यापारी परिवार में जन्म लेकर भी सामरिक नेतृत्व की वृत्ति दिखा सकता है। अतः यहां पर लोगों को अपने गुणों के अनुसार अपना व्यवसाय चुनने को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

जब कोई व्यक्ति अपने गुणों के अनुसार अपने निर्धारित कार्यों का निर्वाहन करता है तथा उन कार्यों को परम-पुरुष श्री कृष्ण की तृप्ति के लिए उन पर अर्पित कर देता है, तब उस व्यक्ति को परम सिद्धि प्राप्त होती है। अगले श्लोक में इसी बात को बताया गया है -

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिरितोषणम् ॥

अतः हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ, निष्कर्ष यह है कि श्री कृष्ण की तृप्ति ही वर्ण और आश्रम के अंतर्गत कार्यों के निर्वाहन से प्राप्त होने वाली परम सिद्धि है।
(श्रीमद्भागवतम् १.२.१३)

दुर्भाग्यवश, आधुनिक समय में कुछ व्यक्तियों ने मनुष्य के वंश पर ज्यादा जोर देकर वर्णों के निर्धारण प्रक्रिया की गलत व्याख्या दी है। इस मनगढ़त विचार का सृजन केवल सामाजिक श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है जिसमें वैदिक समाज के ब्राह्मण या क्षत्रिय वंश में जन्मे कुलीन सदस्यों को विशेष असामान्य अधिकार दिये जाते हैं, जब की वैश्य या शूद्र परिवार में जन्मे अन्य लोगों को इनसे वर्जित किया जाता है। जाति प्रथा नामक इस व्यवस्था ने एक हजार वर्षों से अधिक समय से भारत में तबाही मचा रखी है। परन्तु यह जाति प्रथा श्री कृष्ण द्वारा लागू किए गए वास्तविक वर्ण व्यवस्था का केवल एक मिथ्या निरूपण है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ञात्वा मोक्षसेऽशुभात् ॥४-१६॥

कर्म किसे कहते हैं? अकर्म किसे कहते हैं? - यह विषय बुद्धिमानों को भी उलझन में डाल सकता है। इसलिए, मैं स्वयं तुम्हें समझाता हूँ कि कर्म किसे कहते हैं, जिसे समझकर तुम अशुभ से विमुक्त हो जाओगे।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥४-१७॥

हमें यह समझना चाहिए कि निर्धारित कर्म क्या है, निषिद्ध कर्म (विकर्म) क्या है, और कर्म का त्याग (अकर्म) किसे कहते हैं। कर्म के पथ को समझना अत्यंत कठिन है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येद्कर्मणिच्च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥४-१८॥

जो कर्म में अकर्म को देख सकता है एवं अकर्म में कर्म को देख सकता है वह व्यक्ति मनुष्यों में अवश्य ही बुद्धिमान कहलाता है। सभी तरह के कर्मों को करते हुए भी वह निस्संदेह एक योगी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥४-१९॥

जिसका प्रत्येक कर्म स्वार्थी कामनाओं से मुक्त है और जो अपने सारे कर्मों को ज्ञान की अग्नी में जला दे, विद्वान ऐसे व्यक्ति को बुद्धिमान कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥४-२०॥

ऐसा व्यक्ति जिसने अपने कर्मों के फलों को भोगने की कामना त्याग दी है, जो दूसरों पर निर्भर नहीं होता, और जो सदा तृप्त रहता है, वैसा व्यक्ति कर्म में नियुक्त होते हुए भी दरसल कोई कर्म नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्रोति किल्बिषम् ॥४-२१॥

जो कामना रहित है, मन व शरीर को जो नियंत्रित रखे, जिसमें स्वत्वात्मकता नहीं है, ऐसा व्यक्ति कभी भी किसी कर्म का दोषी नहीं होता, हालांकि वह शरीर के रखरखाव के लिए कर्म अवश्य करता है।

यदच्छालभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥४-२२॥

जो व्यक्ति अपने आप आनेवाले लाभों से सन्तुष्ट है, द्विविधता से परे है, ईर्ष्या रहित है, एवं सफलता और विफलता दोनों में एक समान है, ऐसा व्यक्ति कर्म के बंधन में नहीं बंधता, भले ही वह कर्म कार्य में प्रवृत्त क्यों न हो।

गतसञ्ज्ञ्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥४-२३॥

जो व्यक्ति अनासक्त रहे, मुक्त रहे, ज्ञान में प्रतिष्ठित रहे, एवं केवल समर्पण के भाव से कार्य करे, उस व्यक्ति के सारे कर्मफल विलुप्त हो जाते हैं।

~ अनुवृत्ति ~

हमने पहले ही विविध प्रकार के कर्मों पर चर्चा की है, जैसे कि कर्म (निर्धारित कार्य), विकर्म (निषिद्ध कार्य), और अकर्म (आध्यात्मिक कार्य)। इसके बावजूद कभी कभी इन कर्म के प्रकारों को समझना कठिन है, विशेषकर कर्म में अकर्म को देखना, या अकर्म में कर्म को देखना। सचमुच, यह काफी हृद तक परस्पत विरोधी दिखाई देते हैं। आज के समाज में, विशेषकर योग समुदाय में, कर्मशब्द का प्रयोग अक्सर किया जाता है, परन्तु बिना स्पष्ट रूप यह समझे कि कर्म किसे कहते हैं या कैसे हम कर्म से ग्रस्त होते हैं।

श्री कृष्ण यहां पर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जो कर्म या विकर्म, उनके (श्री कृष्ण के) तृसी के लिए किए जाते हैं उनकी कभी भौतिक प्रतिक्रिया नहीं होती। श्री कृष्ण की तृसी के लिए किए गए कर्मों को अकर्म का दर्जा दिया जाता है, जो केवल आध्यात्मिक लाभ प्रदान करते हैं - कोई अच्छे या बुरे भौतिक परिणाम नहीं। अच्छे या बुरे कर्म, दोनों ही भौतिक होते हैं, और इसलिए इन दोनों से छुटकारा पाकर ही हम आध्यात्मिक तौर पर मुक्ति पा सकते हैं।

आमतौर पर हमें पुण्यात्मक कर्म चाहिए, परन्तु पुण्यात्मक कर्म का अर्थ है कि हमें इन पुण्यों के अच्छे परिणामों का उपभोग करने के लिए फिर से जन्म

लेना होगा। अवश्य दुष्कर्म को सामान्यतया बुरा या अवांछनीय समझा जाता है क्योंकि ये दुःख, पीड़ा और कष्ट-दायक होते हैं। निस्संदेह यह सत्य है, परन्तु दुष्कर्म तो पुण्य-कर्म का ही दूसरा पहलू है और उसी तरह पुण्य कर्म भी दुष्कर्म का ही दूसरा पहलू है। इस संबन्ध को ही सांसारिक जीवन में कर्मों का उलझन कहा जाता है - कभी सुख भोगना और कभी दुःख झेलना।

अकर्म करने से सारे भौतिक उलझनों से मुक्ति प्राप्त होती है और यह व्यक्ति को सर्वज्ञतापूर्ण एक नित्य आनन्दमय स्तर पर पहुंचाता है। योग में प्रवृत्त हुए एक गंभीर व्यक्ति को, अपनी लौकिक इच्छाओं को न्यूनतम बनाकर, अपने मन व शरीर को नियंत्रण में रखकर, और स्वत्वात्मकता को छोड़कर, जितना हो पाए उतना द्विविधता से परे एक सरल जीवन बिताना चाहिए। अपने आप मिलनेवाले लाभों से तृप्त रहकर, व्यक्ति को योग की साधना में दृढ़ रहना चाहिए।

**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हर्विर्ब्रह्माभौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४-२४॥**

यज्ञ में उपयोग किए जानेवाले सामग्रियां परम-तत्त्व हैं, यज्ञ की पवित्र अग्नि परम-तत्त्व है एवं यज्ञ में अर्पण किए गए पदार्थ भी परम-तत्त्व हैं। जिसका मन सदैव परम-तत्त्व के विचार में निमग्न रहता है उसे परम-तत्त्व प्राप्त होता है।

**दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माभावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥४-२५॥**

कुछ योगी देवी-देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं, तो कुछ परम-तत्त्व की आनी में स्वयं की आहूति देते हैं।

**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुहति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुहति ॥४-२६॥**

कुछ योगी श्रवण, दृष्टि, स्पर्शन, महक, और आस्वादन के इन्द्रियों को आत्मसंयम की अग्नि में आहूति देते हैं, तो कुछ, विषय वस्तुओं को, जैसे कि ध्वनि, रूप, स्वाद, स्पर्श और गंध को इन्द्रियों के अग्नि में आहूति देते हैं।

**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाभौ जुहति ज्ञानदीपिते ॥४-२७॥**

कुछ योगी इन्द्रियों एवं प्राण-वायुओं के सारे प्रकार्यों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम की अग्नि में आहूति देते हैं।

द्रव्यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितब्रताः ॥४-२८॥

कुछ योगी अपनी संपत्ति की आहूति तपस में या योग की साधना में देते हैं, तो अन्य, कठोर ब्रत स्वीकार करके, वेदों के अध्ययन द्वारा, पूरी तरह ज्ञान के माध्यम से स्वयं को समर्पित करते हैं।

अपाने जुहूति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्धा प्राणायामपरायणाः
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुहूति ॥४-२९॥

कुछ योगी अन्तःश्वसन की आहूति निःश्वसन में देकर अपने प्राण-वायुओं को नियंत्रित करते हैं, और इस प्रकार वे दोनों श्वासों का नियंत्रण करते हैं। तो कुछ अन्य योगी अपने प्राण-वायुओं की आहूति अपने आहार के नियंत्रिण में देते हैं।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥४-३०॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥४-३१॥

ये सभी योगी यज्ञ के सिद्धांतों से सुपरिचित हैं। यज्ञ कार्यों द्वारा इन्होंने अपने आप को कल्मष-रहित बना दिया है। मात्र यज्ञ के अवशिष्टों को स्वीकार करके वे तृप्त रहते हैं और इस तरह वे सनातन परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ, जो व्यक्ति कभी यज्ञ नहीं करता, उसे अगले जन्म में तो क्या इस जन्म में भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं होता।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥४-३२॥

इस तरह अनेक विभिन्न प्रकार के यज्ञों को वेदों में समझाया गया है। तुम्हें यह समझना चाहिए कि सभी प्रकार के यज्ञ कर्म से ही जन्म लेते हैं, और इस बात को जानकर तुम विमुक्त हो जाओगे।

~ अनुवृत्ति ~

उपर लिखित श्लोक मुख्य तौर पर यज्ञ एवं यज्ञ के विभिन्न प्रकारों पर चर्चा करते हैं। परन्तु, यह पहले ही बता देना उचित होगा कि श्री कृष्ण पशुओं के बलिदान की संस्तुति कभी नहीं करते। अंग्रेजी में 'बलिदान' शब्द तुरंत मन में रक्तपात के झलक दिखलाता है - और यह ठीक ही तो है। आखिर धार्मिक इतिहास में, प्राचीन समय से लेकर आधूनिक समय तक, विश्वभर में पशुओं एवं मनुष्यों का बलिदान एक सामान्य प्रथा हुआ करती थी। परन्तु आज, सबसे प्रोग्रेसीव या प्रगतिवादी विचारक मनुष्यों और पशुओं के बलिदान को बिल्कुल ही घिनौना समझते हैं और निस्संदेह श्री कृष्ण भी इस सोच का पूरी तरह से समर्थन करते हैं।

श्री कृष्ण द्वारा यहां पर बताए गए यज्ञ, मुख्य तौर पर तपस्या, प्राणायाम, वेदपाठ, ज्ञान परिशोधन, वैराग्य, व्रत आदि के कार्य हैं। इन यज्ञों का उद्देश्य केवल परम-सत्य के साक्षात्कार के पथ पर प्रगति करना है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि, “ईश्वर एक है”, या, “सबकुछ एक है”। हालांकि यह बात सच है, फिर भी ऐसे बयानों को उचित ढंग से परिभाषित करना आवश्यक होता है। भगवान् परम-सत्य हैं, अद्वितीय हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी जीवात्माएं भी भगवान् हैं। इस विषय पर भगवद्गीता में बिल्कुल स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सभी जीवात्माओं के सदैव पृथक व्यक्तित्व होते हैं और वे किसी भी समय भगवान् नहीं बनते। उसी प्रकार, भगवान् निरंतर परम-सत्य ही रहते हैं, और कभी भी इससे कम नहीं होते।

चौबीसवे श्लोक में कहा गया है कि यज्ञ के सामग्री परब्रह्म हैं, पवित्र अग्नि परब्रह्म है, होतृ (पुरोहित) या यज्ञ कर्ता भी परब्रह्म है, और जो व्यक्ति सदैव परब्रह्म के चिन्तन में निमग्न रहता है वह परम-सत्य को प्राप्त कर लेता है। इस बात का अर्थ यह नहीं कि ये सब अपना व्यक्तित्व परब्रह्म में खो बैठते हैं। परम-सत्य के संपर्क में जो कोई भी आए, संगत के असर से परम-सत्य के लक्षण उसे प्राप्त हो जाते हैं, फिर भी उसका पृथक व्यक्तित्व सदैव कायम रहता है।

यहां पर ऐसा भी कहा गया है कि व्यावहारिक तौर पर जीवन में सब कुछ, लौकिक सुख की प्राप्ति भी, त्याग पर निर्भर होती हैं। त्याग किए बिना कोई भी वर्तमान के या अगले जन्म के जीवनकाल में सुखी नहीं हो सकता। योग के

साधकों के लिए यज्ञ (समर्पण) का ज्ञान अनिवार्य है। इस बात को जानकर व्यक्ति विमुक्त हो जाता है।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥४-३३॥**

हे शत्रुविजयी, ज्ञान से जुड़ा हुआ यज्ञ, भौतिक द्रव्यों के यज्ञ से ऊँचा होता है। हे पार्थ, ज्ञान में ही समस्त कर्मों का पूरी तरह से समापन होता है।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥४-३४॥**

अब एक ऐसे आत्मवित व्यक्ति के पास जाकर इस ज्ञान को समझने का प्रयास करो, जिन्होंने परम-सत्य के दर्शन किए हैं। नम्रता से उनसे प्रश्न पुछो, और उनकी सेवा करो। वे तत्त्वदर्शी संत तुम्हें ज्ञान देंगे और इस पावन पथ का अनुसरण करने के लिए तुम्हें दीक्षा प्रदान करेंगे।

**यज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥४-३५॥**

हे पाण्डुपुत्र, इस ज्ञान को समझकर तुम कभी भी मोहित नहीं होगे। इस ज्ञान के माध्यम से तुम सभी प्राणियों का आध्यात्मिक स्वभाव जान पाओगे और सभी को मुझमें ही स्थित देखोगे।

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥४-३६॥**

भले ही तुम महापापी ही क्यों न हो, ज्ञान (विवेक) के नाव पर सवार होकर तुम इस व्यसनों के सागर को पार कर सकोगे।

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥४-३७॥**

हे अर्जुन, जिस प्रकार एक धधकती अग्नि काठ को जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥४-३८॥

समस्त विश्व में ज्ञान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं। यथाक्रम, उचित समय पर, योग में संपन्न व्यक्ति अपने आप इस बात को समझ जाता है। अनुवृत्ति

भगवद्गीता के उन्नत विद्यार्थी और पण्डितों की समज के अनुसार, ३४ वे श्लोक में श्री कृष्ण का उपदेश यह है कि परम-सत्य को समझने के लिए एक तत्त्वदर्शी, जिन्होंने सत्य को देखा है, उनके पास विनम्रतापूर्वक जाकर उचित प्रश्न करने चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए। इस तरह हमारे परिप्रश्न और सेवा से प्रसन्न होकर, तत्त्वदर्शी अभ्यर्थी को योग के पावन विज्ञान पर उपदेश एवं दीक्षा प्रदान करेंगे। दूसरे शब्दों में, श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि सत्य को जानने के लिए एक गुरु के पास जाना चाहिए और उनका शिष्य बनना चाहिए।

गुरु पादाश्रयस्तस्मात् कृष्ण दीक्षादिशिक्षणम् ।
विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवानुवर्तनम् ॥

पहले तो अभ्यर्थी को गुरु की चरणों में स्वयं को समर्पण करना चाहिए, फिर उनसे आध्यात्मिक दीक्षा एवं श्री कृष्ण के विषय पर उपदेश प्राप्त करके उनसे प्रशिक्षण लेनी चाहिए, उनकी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिए और साधुओं के पदनिहाँ पर उनका अनुसरण करना चाहिए। (भक्ति-रसामृत-सिंधु १.२.७४)

गुरु या आचार्य को श्री कृष्ण का प्रतिनिधि मानकर उनकी आज्ञा को सावधानी से पालन करना चाहिए। एक सच्चे गुरु श्री कृष्ण (परमात्मा) के ही प्रतिनिधि होते हैं, और वे दो प्रकार के होते हैं - दीक्षा गुरु और शिक्षा गुरु। दीक्षा गुरु दीक्षा प्रदान करते हैं और शिष्य को अपनी परम्परा का सदस्य बनाते हैं। इस तरह की दीक्षा गुप्त रूप में नहीं बल्कि सार्वजनिक रूप में की जाती है, हालांकि दीक्षा के अनुष्ठान पर ध्यान एवं चिंतन के लिए शिष्य को महामन्त्र और गुप्त रूप से गायत्री मन्त्र दिये जाते हैं। शिक्षा-गुरु वे हैं जो शिष्य को क्रमिक तौर पर आत्म-साक्षात्कार में प्रगति के लिए अभ्यास-संबंधी उपदेश प्रदान करते हैं। दीक्षा और शिक्षा गुरु के प्रकार्य वही गुरु, या पृथक गुरु कर सकते हैं, किंतु किसी भी सूरत में दोनों दीक्षा एवं शिक्षा गुरु को, श्री कृष्ण का प्रतिनिधि होना आवश्यक है। इस तरह, गुरु को श्री कृष्ण के समान ही समझना चाहिए और

उनका पूर्णरूप से आदर-सम्मान करना चाहिए। श्री कृष्ण इस बात की पुष्टि श्रीमद्भागवतम् में इस प्रकार करते हैं -

आचार्य मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मार्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेव मयो गुरुः ॥

यह जानो कि आचार्य (गुरु) और मुद्दमें कोई अंतर नहीं है और कभी उनका अपमान नहीं करना चाहिए। उनको सामान्य समझकर कभी उनसे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए क्योंकि वे समस्त देवों के प्रतिनिधि हैं।
(श्रीमद्भागवतम् ११.१७.२७)

इसे गुरु-शिष्य का संबंध कहा जाता है जो पुरातन काल से मान्यताप्राप्त है। परन्तु, प्रश्न यह उठता है कि गुरु कौन हैं? गुरु की योग्यताएं क्या होनी चाहिए? यह बात तो स्पष्ट है कि एक शिष्य में सत्य जानने की आतुरता होनी चाहिए और साथ ही साथ उसे विनम्रतापूर्वक गुरु से उचित प्रश्न पूछने चाहिए एवं उनकी सेवा करनी चाहिए। किंतु एक गुरु से हमें क्या अपेक्षा करनी चाहिए - उनकी योग्यताएं क्या होनी चाहिए?

भगवद्गीता में कहा गया है कि गुरु को तत्त्वदर्शी होना चाहिए, यानि कि जिन्होंने सत्य को देखा है, एवं उन्हें कृष्ण-प्रज्ञा के विज्ञान की जानकारी भी होनी चाहिए। यह बात पूर्व-निर्धारित करता है कि एक गुरु भी अपने पूर्ववर्ती गुरु के शिष्य हैं। इस पद्धति को गुरु-परम्परा कहते हैं। भगवद्गीता परम-सत्य के ज्ञान में प्रवेश पाने के एवं सत्य को पहचानने के मापदंड निर्धारित करता है। श्री कृष्ण भगवद्गीता के मुख्य वक्ता हैं, अतः एक गुरु को आवश्यक रूप से श्री कृष्ण की ही परम्परा में होना चाहिए।

एक गुरु की प्रथम योग्यता यह है कि उन्हें एक प्राधिकृत सम्प्रदाय (परम्परा) में होना चाहिए और उन्हें अपने शिष्यों को भगवद्गीता के सिद्धांतों की शिक्षा देनी चाहिए। कुल चार सम्प्रदाय हैं, और हमें भगवद्गीता का सैद्धांतिक ज्ञान इनमें से किसी एक का सदस्य बनकर प्राप्त करना चाहिए। श्री बलदेव विद्याभूषण ने इन चार परम्पराओं का उल्लेख अपने ग्रन्थ प्रमेय-रत्नावली में किया है -

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः ।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनकाः वैष्णवाः क्षिति-पावनाः ।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात् ॥

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः ।
श्री विष्णु-स्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुःसनः ॥

जो मन्त्र परम्परागत रूप से प्राप्त न हुआ हो, वह मन्त्र कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः कलियुग में चार सम्प्रदाय (परम्पराएं) हैं। वे हैं श्री, ब्रह्मा, रुद्र, और सनक (कुमार) सम्प्रदाय। श्री रामानुजाचार्य श्री-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, श्री मध्वाचार्य ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य हैं, श्री विष्णुस्वामी रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य हैं, और श्री निम्बादित्य सनक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। (प्रमेय-रत्नावली १.५-७)

वेदों का निष्कर्ष है कि श्री कृष्ण ही परम-सत्य हैं, और सभी जीवात्माएं उनके अव्यवभूत अंश हैं। कठोपनिषद् में यह उल्लेख है -

नित्योऽनित्यानां चेतनस्चेतनानाम् ।
एको बहूनां यो विद्धाति कामान् ॥

वे (परमपुरुष) नित्यों में नित्य हैं। वे चेतनाओं में चेतना हैं, और वे अकेले ही समस्त जीवों के पालनहार हैं। (कठोपनिषद् २.२.१३)

इसके बावजूद, अनैतिक व्यक्ति भगवद्गीता में कहे गए श्री कृष्ण के शब्दों का एक व्यापार बना देते हैं और श्री कृष्ण को परमपुरुष घोषित करने के बजाय स्वयं को ही कृष्ण या उनका अवतार कहकर प्रस्तुत करते हैं। ऐसे तथाकथिक गुरु वास्तव में गुरु नहीं बल्कि धोकेबाज होते हैं। इस विचार को शिव जी ने पद्म-पुराण में बताया है -

गुरवो बहवः सन्ति शिष्य-वित्तापहारकाः ।
दुर्लभः सद्गुरुर्देवी शिष्य-सन्तापहारकः ॥

ऐसे बहुत से गुरु हैं जो अपने शिष्यों की संपत्ति ऐंठ जाते हैं, किंतु एक ऐसे सद्गुरु को प्राप्त करना बहुत विरल है जो अपने शिष्य के अज्ञान को एवं उसके दुर्ख को दूर कर सके।

धोकेबाज अपने आध्यात्मिक उन्नति के बड़े ढिंडोरे पीटते हैं, परन्तु वास्तव में वे आध्यात्मिक रूप से कंगाल होते हैं। केवल श्री कृष्ण का सच्चा प्रतिनिधि ही भगवद्गीता का गुरु बन सकते हैं। यही सभी तत्त्वदर्शियों का निष्कर्ष है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्या परांशान्तिमच्चिरेणाधिगच्छति ॥४-३९॥

जो श्रद्धावान हैं और अपने इन्द्रियों को संयमित रखने में तत्पर हैं, वे इस ज्ञान को तुरंत समझ जाते हैं, और इस तरह वे परम शांति प्राप्त करते हैं।

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४-४०॥

जो अज्ञानि हैं, श्रद्धाहीन हैं और संशयपूर्ण हैं, उनका विनाश निश्चित है। ऐसे श्रद्धाहीन लोग, इस जन्म में तो क्या, अगले जन्म में भी सुख प्राप्त नहीं कर सकते।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्चिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबजन्ति धनञ्जय ॥४-४१॥

हे धनञ्जय, जिसने योग की प्रक्रिया से कर्म कार्य का त्याग किया है, उसे कर्म का बन्धन नहीं होता। ज्ञान के माध्यम से उसकी शंकाएं दूर हो चुकी होती हैं, और इस प्रकार उसने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त होता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४-४२॥

अतः, हे भारत, ज्ञान की तलवार से, अपने हृदयस्थित अज्ञान से उत्पन्न हुए इन संशयों को काटो। योग की प्रक्रिया का आश्रय लेकर उठो और युद्ध करो!

श्रीमद्भगवद्गीता

ॐ तत्सदिति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां
वैयासिक्यां भीष्मपर्वाणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
ज्ञानयोगे नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

ॐ तत् सत् - अतः व्यास विरचित शतसहस्र श्लोकों की श्री महाभारत ग्रन्थ के भीष्म-पर्व में पाए जाने वाले आध्यात्मिक ज्ञान का योग-शास्त्र - श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् में श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद से लिए गए ज्ञान योग नामक चौथे अध्याय की यहाँ पर समाप्ति होती है।

